Sahitya Samhita (साहित्य संहिता)
Available at http://www.sahityasamhita.org/
ISSN 2454-2695
Volume 04 Issue 07
July 2018

आसमान की ओर बाँहें उठाए

सागरी झीलों का शहर त्रिवेन्द्रम

–रति सक्सेना

मई - १९७५,

पसीना और चिपचिपाहट, चार दिनों से लगातार चलती यात्रा से चकराता दिमाग, थकावट से मुँदी आँखें अचानक एक ठंडा सा झोंका, मन कुछ संभला नन्हीं सी फिज़ा तन मन को छूती निकल गई प्रदीप ने कंधे झकझोरते हुए कहा, "उठो! देखो न, फिर कहोगी कि दिखाया भी नहीं!" आँखें अपने आप खुल गई, आँखों के फोकस में था नन्हीं नन्हीं लौले लिए सपाट फैला पानी, किनारों से पानी की ओर झुकते नारियल दरख्त, बाँस की चप्पू के सहारे तिरतीं नन्हीं-नन्हीं डोंगियाँ

"कौन सी नदी है?" मैंने आँखें झपझपाते हुए कहा।

"नदी नहीं, सागर की झील है, धरती के निचले हिस्सों में समुन्दरी पानी घुस जाता है तो इसी तरह झील का आकार ले लेता है, केरल आ गया है मैडम, अब उठ जाइए, सारे रास्ते ऐसे ही खूबसूरत नज़ारे मिलेंगे देखने को।" प्रदीप ने समझाते हुए कहा।

"फिर तो इसका पानी खारा होता होगा?" मैं अभी तक अचंभित थी।

"समन्दर का पानी खारा ही होता है, कोई मीठा समन्दर हो तो बता दो" प्रदीप फिर छेड़ते हुए बोले।

सागरी झीलें, आँसुओं का खारापन लिए, ऊँचे उठने की होड़ लिए नारियल दरख्तों से घिरी हुई, लगता मानों आसमान की ओर बाहें पसार दुआ माँग रही हो। दरख्तों की इतनी रेलमपेल की आसमान तक हराकच्चा रंग चढ़ गया, आसमान भी कौन सा साफ है, मानसून के आगमन की सूचना देने वाले पाइलेट

ISSN 2454-2695
Volume 04 Issue 07
July 2018

राइडर जैसे बादल उधम मचा रहे हैं। आँखें खिड़की पर चिपक गई, एक के बाद एक खारी झीलें गुजरतीं गई, हरियाली दिल में घरौंदा बनाने लगी।

त्रिवेंद्रम का रेलवे स्टेशन, कुछ सोता सा, कस्बई रंगत लिए हुए खपरेली ढलवाँ छत लिए प्लेटफार्म, देश का आखिरी पड़ाव। कोई हड़बड़ी नहीं, गाड़ी यही रुकेगी, आँखें अचरज से तेजी से घूम रही हैं। शाम घिर आई हैं साँझ की श्यामल मलमली चादर से झलकते खपरेल की ढलवाँ छत लिए, हरियाली से लिपटे छोटे-छोटे मकान, दरख्त चारों ओर दरख्त इतने दरख्त कि मन ननिहाल की नन्हीं सी गिलहरी बन गया। एक छलांग लगाऊँ और चढ़ जाऊँ कटहल के दरख्त पर, फिर वहीं से हाई जंप लगाऊँ आम के दरख्त पर वहाँ तो रुकना पड़ेगा न! आम कुतरे बिना आगे बढ़ा नहीं जा सकता मुँह में पानी आ गया।

'कहाँ खो गईं, चलो न!' प्रदीप ने लाड़ से कहा।
गलियों से गुज़रते हुए पहुँचे एक टीले के सामने उस पर बना खूबसूरत सा छोटा सा घर अलग-थलग सा कानपुर के सिर से सिर भिड़ाए घर याद आ गए फिर याद आई जयपुर के पत्थरी सीना लिए ऊँचे-ऊँचे इमारतनुमा घर, राजसी पहचान लिए आन से, शान से खड़े मकान कई जोड़ी आँखें हमारा मुआयना करने लगीं पुरुष, घुटनों तक धोती चढ़ाए हुए खुला सीना, स्त्रियाँ सफेद धोती को कमर से नीचे लपेटे हुए, ऊपर कसा ब्लाउज और एक सफेद दुपट्टा सा यह तो बाद में पता चला कि इसे नेरियत और मुँड कहते हैं।

हम चार दिन के सफर की मैल और गंद लिए सास ससुर साथ थे, इसलिए सिर पर पल्लू यही शायद उनके लिए अचरज की चीज था। मुझे राजस्थान के रंगबिरंगे बेस (घाघरा-चोली) याद आ गए चटख रंगोंके घाघरे, तरह-तरह की ओढ़नियाँ रंगों की घेलमपेल और यहाँ सफेद मात्र सफेद रंग ज़रूरत ही क्या है दूसरे रंगों की? प्रकृति ने इतने रंग जो भर दिए हैं, सिर्फ एक ही रंग छोड़ा है उसने आदमी के लिए वह है श्वेत नहीं तो उसकी अस्मिता ही नष्ट हो जाएगी! राजस्थान के मटमैले रंग को यदि चटख रंगों से न संवारा जाए तो जिंदगी कितनी धूमिल हो जाएगी!

ISSN 2454-2695
Volume 04 Issue 07
July 2018

अब सवाल उठ रहा है भाषा का, शब्द कान तक आ तो रहे हैं, किंतु समझ की छलनी से छन नहीं पा रहे हैं। कौन सी भाषा है यह? कभी-कभी संस्कृत के शब्द टकराते हैं तो कभी न जाने कौन सी भाषा के हमने रटना शुरू कर दिया - ओन्नु, रण्ड, मून्नु, नालु बोलते-बोलते हम अनायास हँस पड़ते हैं बाप रे क्या ध्वनियाँ हैं - नगाड़े जैसे।

टकटकातीं टन्न-टन्न-टन्न भाषा का असली स्वाद चखने में काफी वक्त लग गया आरोह-अवरोह की गलियों में तो काफी दिनों, नहीं बरसों तक भटकना पड़ा।

अब उत्सुकता हैं दो दृश्यों की - एक सागर दर्शन और दूसरा थुम्बा के तट से राकेट लांचिंग सागरी झीलों से तो मिल आए, पर उनमें जोश और उमंग कहाँ?

रविवार की शाम हम लोग सागर तट पर आ पहुँचे, शहर के बीचों-बीच पड़ता "शंखमुखम् बीच" या यह कहें कि सारा शहर इसके करीब है। तट के करीब पहुँचते न पहुँचते ठंडी हवाएँ आमंत्रण दे रही हैं, फिर रेत का गलियारा सागर की हुँकार, और यह आ गया सागर ओफ यह सागर है कि मरुस्थल का थार पिघल गया है, थार की रेत पर पड़ी लकीरों सी लहरें तट तक पहुँचते पहुँचते फण उठा कर चली आ रही हैं फिर किनारों पर सिर पटक बिल्ली सी दुबक जा रही हैं लहरों के ऊपर लहरें अचानक इस तरह से हमला कर देतीं कि पैर उखड़ जाते।

"लहरों के सामने डटे रहने का तरीका है कि अपने पैर उठाते रहो, जगह बदलते रहो, पैरों को रेत में धँसने मत दो।" प्रदीप समंदरी लहरों के सामने टिके रहने के गुर सिखा रहे हैं।
अरे यही तो जिंदगी के सामने डटे रहने का गुर है एक जगह पर टिको नहीं रुको नहीं।
अब पहुँच गए थुम्बा - रॉकेट लांचिंग के लिए। दीवाली के राकेट से कई गुना बड़ा राकेट सागर के किनारे

ISSN 2454-2695
Volume 04 Issue 07
July 2018

खड़ा है काउंट डाउन होते ही उड़ चला सरसराता हुआ फिर ओझल हो गया। गिरा तो जरूर होगा पर सागर में कहीं दूर, मौसमी सूचनाएँ बटोर कर।

हम धीरे-धीरे इस शहर की खुशबू से वाकिफ हो रहे हैं, शब्द अर्थ खोलने लगे हैं ल़ोग ठिठक कर देखते हैं पर पहचानने लगे हैं, एलिस वंडरलेंड में पैठने लगी है।

बरसात - मानसून की पहली बरसात - अहा इस बरसात में तो नहाना चाहिए। याद आ गई राजस्थान की बरसात, फौहार पड़ते ही माँ अचकचा कर कहतीं, "अरे लड़कियों पहली बरसात है, नहा लो! सारी अन्होरियाँ ठीक हो जाएँगी और हम आँगन में खड़े होकर वर्षा स्नान का मज़ा लेते, फिर न जाने कब वर्षा के दर्शन हों पर यहाँ तो बारिश के साथ ही छाते खुल गए, सारी सड़कें छातों से अट गईं। "मुझे तो नहाना है बारिश में" मैं इठला कर कहती हूँ।

"पागल हो क्या? यहाँ कोई नहीं नहाता बारिश में, तबियत खराब हो जाती है।" प्रदीप झिड़क कर कह रहे हैं।

लेकिन पागलपन किसी का सुनता थोड़े ही है, इतना तो जानता है कि छाते को सरका कर किस तरह बारिश का मजा लिया जा सकता। बारिश भिगो देती है, तन को ही नहीं, मन को भी।

जून १९८६

रविवार की शाम समंदर के किनारे बिताना आदत बनती जा रही है, दोनों बच्चियों का साथ हैं, लहरें आती हैं तो वे उछल कर हमारे पाँवों से चिपक जाती हैं, लहर के जाते ही फट से रेत पर रेत पर घरौंदे बनाने के लिए कहीं सीखने थोड़े ही जाना पड़ता है, अपने आप ही आ जाता है। सागर का किनारा अब इतना शांत नहीं है, काफी भीड़ जुटने लगी है। स्वभाव से चारदीवारी में रहने वाले नागरिक समंदर का लुत्फ लेने लगे हैं। गल्फ का पैसा चला आ रहा है, खपरैल टूट रही हैं, कांक्रीट की छते डाली जा रही हैं।

ISSN 2454-2695
Volume 04 Issue 07
July 2018

नारियल के दरख्त काटे जा रहे हैं, सागरी झीलों से रेत उगा ली जा रही है। कांक्रीट का जंगल उगने लगा है, शहर की मादक खुशबू न जाने क्यों कम होती जा रही है।

बेटियों ने इसी शहर में आँखें खोली, इसी हवा को सीने में भरा, इसी समंदर के साथ शामें बिताई। यदि वे दूर चली गई तो कैसे जी पाएँगी नहीं वे भी खोज लेगी अपना समंदर, बिलकुल अपने आसमान की तरह। इस तरह चटर-पटर मलयालम बोलती हैं, एक हम हैं उच्चारण की भूलभुलैय्या से बाहर निकल ही नहीं पा रहे हैं।

शहर बदलता जा रहा हैं! चलो अच्छा है, कितना सामान ढो-ढो कर लाना पड़ता था। राजमा, काबुली चने से लेकर सरसों के तेल तक, अब सब कुछ यहाँ मिलने लगा है लेकिन नालुकेट्टु मकान? श्वेत नेरियत-मुँड की जगह नाइलोन की रंगबिरंगी साड़ियाँ? मंदिर के परिसर के चारों ओर बने मकानों के सामने बने सफेद कोलम (रंगोली)? सब मिटते जा रहे हैं शहर के पन्ने पर से, शहर भी तो आखिरी पड़ाव नहीं रहा हैं गाड़ी आगे भी जाती है।
सीमाएँ फैलने लगीं हैं, और दिल सिकुड़ने।

फरवरी २००३,

शहर पहचाना नहीं जा रहा है, घर से निकलो तो दुकानों की कतारें, हर जगह बाजार में बदलती जा रही हैं, सोने की दुकानें तो ऐसी सजी हैं, मानो मिठाई की दुकान हो। लोगों की ऐसी भीड़ कि दीवाली से पहले ग्राहकों का जमघट हो शाम होते ही शहर में निकलना मुश्किल होता जा रहा है। बाजारीकरण सड़कों-गलियों से होता हुआ लोगों के दिलो-दिमाग में हावी होता जा रहा है। समंदर को भी सभ्य बनाने की कोशिश की जा रही है, अब लहरों को बाँध दिया गया है, दुकानों की बारात सज गई हैं तट पर, होटलों

ISSN 2454-2695
Volume 04 Issue 07
July 2018

का काफिला जमा हो गया है।

शहर सभ्य हो रहा है और मन उदास है, गलियाँ चौड़ी हो रही हैं घर सिकुड़ता जा रहा है।

क्यों उदास है वह गुम होते समंदर के लिए?

सब कुछ तो है यहाँ!

आदमियों की लहरें एक के बाद एक

सीपियों की खिलखिलाहट, तलवों के नीचे धँसती रेत

रोशनियों की चमक, फल विहीन नारियल दरख्त

काटी जाने को तैयार बकरियाँ

समंदर की ओर मुँह किए होटल की बालकनियाँ

फिर भी उदास है वह, मानो कुछ खो गया हो

समंदर ही नहीं बल्कि उसमें डूबता सूरज भी

वास्तव में उदास है वह

कल तक यहाँ बैठ

बतियाती थी समंदर से घंटो

रचती थी मन के महल

लहरें आतीं, उन्हें बतियाता देख चुपचाप लौट जाती

समंदर सुनाता यात्रा की कथा, फिर मदहोश सो जाता उसकी बाहों में

सूरज कोहनियों पर सिर टिका वहीं बैठ जाता टीले पर

सन्नाटा हरहराने लगता समंदर बन

सब कुछ तो है यहाँ

सिवाय समंदर, सूरज और सन्नाटे के

फिर क्यों उदास है वह?

ISSN 2454-2695
Volume 04 Issue 07
July 2018

बिटिया आई तो उसकी आँखें फैल गई, माँ त्रिवेंद्रम तो अमेरिका बन रहा है! क्यों नहीं, पारंपारिक वेशभूषा गायब हो रही है, सलवार कमीज और पैंट जींस, लोग भूल रहे हैं मछली टप्योका और दौड़ रहे हैं फास्टफूड की तरफ, मकान गायब होते जा रहे हैं, खड़ी हो रहीं हैं बहुमंजली इमारतें। मैंने बुदबुदा कर कहा - क्यों कि वह अब तिरुवनन्तपुर जो बन गया है, कुछ सालों से ओणम आता है और चुपचाप निकल जाता है, न घरों के सामने "अत्तपू" (फूलों की रंगोली) बनता है न घर में "सद्य" (दावत का विशेष भोजन), न जाने कितने साल बीत गए ओणम पर किसी के भी घर से "पायसम" (नारियल के दूध से बनी विशेष खीर) नहीं आया। लोग होटल से सद्य मँगाते हैं, टी.वी.रंगोली देखते हैं, और ओणम मना लेते हैं। लेकिन एक बात हैं जो इसे अपने देश से जोड़े रखती है सड़कों पर फैली गंदगी, उन दिनों यहाँ गंदगी का नामोनिशान नहीं था जब यह त्रिवेंद्रम था, जब यहाँ बहुत कम दुकानें थीं, जब यहाँ के लोग मानवीयता और शुचिता पर विश्वास करते थे। ओणम का गीत याद आता है - "बलि के राज्य में चोरी-चपाटी नहीं थी, सबके पास खाना-पीना था, सब सुख से रहते थे।" अब सब कुछ इतना लबालब भर गया है कि आए दिन अखबार की हेडलाइन आँखों में चुभती हैं, परिवार ने कर्ज से परेशान होकर सामुहिक आत्महत्या कर ली।

फिर मेरा शहर उन्नति कर रहा है, और मैं घर से सिमटती जा रही हूँ। मैं समंदर के किनारे नहीं जाती, मुझे समंदर नहीं मिलता वहाँ, मैं बाजार नहीं जातीं, मुझे केरल नहीं मिलता वहाँ। मेरा मंदिर भी घर में ही हैं। कहीं भी जाऊँगी तो वह गंध पुकारेगी मुझे जो आज से लगभग तीस साल पहले मेरे जेहन में पैठ गई थी मैं अपने ही सवालों से घिर जाऊँगी, फिर यह शहर है, अभी भी देखने लायक, घूमने लायक, हरियाली को सीने में भर लौट जाने लायक इसमें कोई शक नहीं।